बहुजन राजनीति का पतन

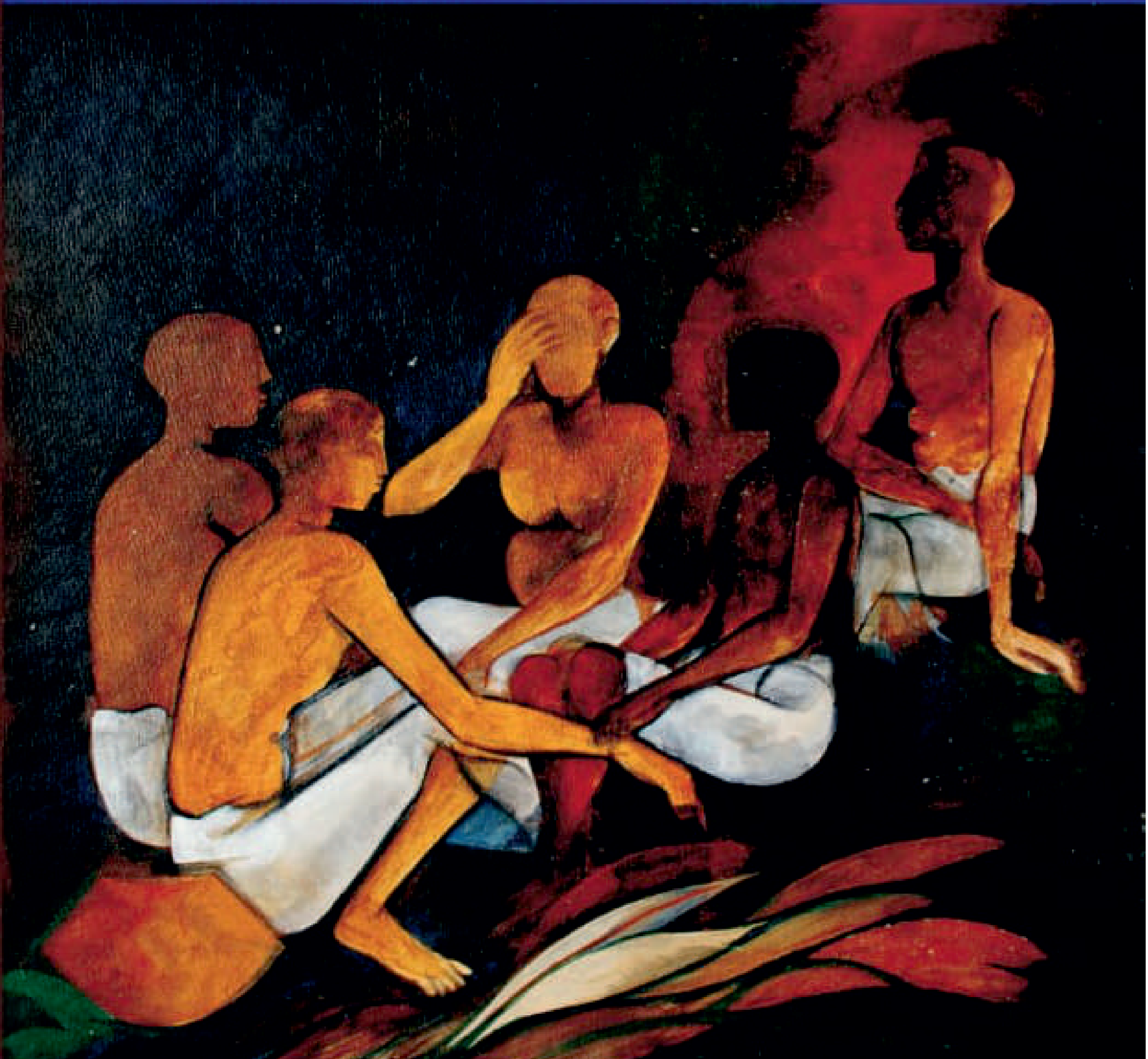

एच.एल. दुसाध

बहुजन राजनीति का पतन

एच. एल. दुसाध

बहुजन डाइवर्सिटी मिशन
नई दिल्ली-110047

प्रथम संस्करण : 2017

प्रकाशक : **बहुजन डाइवर्सिटी मिशन**
एफ-196, फेज-VI, आया नगर एक्स, नई दिल्ली-110047
E-mail : hl.dusadh@gmail.com
मो. : 9654816191

© **लेखक**

मूल्य : 400.00 रुपये

रचना : **बहुजन राजनीति का पतन**
लेखक : एच.एल. दुसाध
आवरण : डॉ. लाल रत्नाकर
शब्दांकन एवं मुद्रण : क्विक ऑफसेट, दिल्ली-94

समर्पित

अकथनीय प्रतिकूलताओं का सामना कर
एक असाधारण लेखक के रूप में उभर रहे
उमेश कुमार 'रवि' *को*

अनुक्रम

भूमिका 7

अपनी बात 11

2009 : सामाजिक न्याय के लिए खतरे की घंटी–11, मंद पड़ने लगी है सामाजिक न्याय की राजनीति–12, 2009 से भी बदतर : लोकसभा चुनाव-2014–13, और 2014 से भी बदतर साबित हुआ : 2017–14, बिहार मॉडल को अपनाने से दूर रहे : माया-अखिलेश–14, बसपा के पक्ष में हवा बनाने में मुस्तैद रहे अधिकांश बहुजन बुद्धिजीवी–15, बहुजन राजनीति के पतन का मतलब : सामाजिक न्याय की राजनीति का पतन नहीं–16, 2019 : बहुजनों के इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई–16, 2019 में भाजपा में पेश करेगी और कठिन चुनौती–17 ,बहुजनवादी दलों की शक्ति का स्रोत–18, बहुजनों की सापेक्षिक वंचना : भाजपा के खिलाफ साबित हो सकती है बारूद का ढेर!–19, सापेक्षिक वंचना के सद्व्यवहार के लिए : डाइवर्सिटी–19, सामाजिक अन्यायमुक्त भारत निर्माण बने चुनावी मुद्दा–20, बहुजन नेताओं को भारत का ताज पहना सकती है : डाइवर्सिटी–21

अध्याय-1 : सामाजिक न्याय से दूर : बहुजनवादी दल 23

मोदी के मास्टर स्ट्रोक का एकमेव जवाब : सामाजिक न्याय की राजनीति का विस्तार–25 नोटबंदी के शोर में खो गया : एक क्रान्तिकारी फैसला–27, काले धन के विमर्श के भंवर से निकलने की जरुरत–31, मोदी-मुक्त भारत का सपना–33, यूपी वाले कैसे बचायेंगे देश!–37, डाइवर्सिटी क्रांति की जरुरत–40, चुनावी मौसम में डाइवर्सिटी को मुद्दा बनाने की जरुरत–44, लोकतंत्र की सलामती के लिए जरुरी है डाइवर्सिटी–47, बसपा के लिए मुक्त है : सामाजिक न्याय की राजनीति का मैदान!–50, क्या बहुजन नेता ट्रंप से भी प्रेरणा लेंगे!–54, दलित-मुस्लिम एकता की ऐतिहासिक जरुरत–57, दलित-मुस्लिम एकता के लिए डॉ. आंबेडकर को अनुसरण करने की जरुरत–61, विकास और बहुजन की असल तस्वीर–64, भाजपा के ज्यादा करीब : मायावती या कोई और!–68, भाजपा कैसे बन गयी अप्रतिरोध्य!–73

थैंक्स मैडम रीता बहुगुणा!–79, मोदी के मिथ्यावादी चरित्र को एक्सपोज करतीं : मायावती–80, विमर्श की धारा डाइवर्सिटी की ओर मोड़ दो!–81, नोटबंदी के मुकाबले के लिए–82, आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी बने : सबसे बड़ा चुनावी मुद्दा–82, नरेन्द्र मोदी से मुकाबला–83, अखिलेश-माया की ताकत–83, बसपा नेतृत्व की ऊर्जा–84, लम्बा खिंचता सपा का ड्रामा–84, यूपी वालों देश बचा लो!–85, सपा की जिम्मेवारियां!–86, मुलायम का धोबियापाट!–86, फिर संघ का आरक्षण विरोधी बयान!–87, अखिलेश यादव बनायेंगे यूपी को अमेरिका!–88, भाजपा को चुनौती देने में सक्षम : सिर्फ बसपा–89, क्या इस चुनावी मौसम में भारत के जातिवादी नेता ओबामा की भांति डाइवर्सिटी को सम्मान देंगे!–89, अपने लड़के बनाम बाहरी!–90, लैंगिक विविधता से निर्लिप्त : हमारे राजनीतिक दल–90, संघ के रग-रग में है : सामाजिक न्याय विरोधी भावना–91, यूपी के लोग अगर भाजपा से देश को बचाना चाहते हैं तो!–92, तो सवर्णवादी भाजपा इसलिए कामयाब और बहुजन नेतृत्व व्यर्थ है!–93, क्या अखिलेश यादव ने मायावती जी के लिए मुक्त कर दिया है : सामाजिक न्याय की राजनीति का मैदान!–94, बसपा तीसरे स्थान पर रहेगी!–95, अपर्णा यादव के आरक्षण विरोधी बयान पर बसपा निर्लिप्त क्यों!–96, सुरक्षा नहीं, शक्ति के स्रोतों में भागीदारी की रणनीति बनाये : मुस्लिम समुदाय–97, सवर्णवादी भाजपा के विनाश के लिए : बसपा पर ही कर सकते हैं भरोसा–98, दलित-मुस्लिम एकता की जरुरत का अहसास कराती : एक अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट–99, मुस्लिम विरोधी दल!–100, तो इसलिए पिछड़ी जाति के नेता आरक्षण की बात नहीं करते!–101, अखिलेश का बॉडी लांगुएज–101, यदि आप सामाजिक न्यायवादी हैं तो विकासवादी अखिलेश यादव को रोकिये!–102, भीखनुमा घोषणाओं के सहारे मूलनिवासियों का वोट हथियाने की चल रही है साजिश!–103, बसपा को छोड़कर अन्य दलों का समर्थन कैसे कर सकते हैं!–103, धर्मनिरपेक्षतावादी विद्वान मित्रों, दिलीप मंडल, अरविन्द कुमार, चांद कुमार मनीष की चुनौती कबूल करें!–104, सिर्फ बसपा समर्थक ही जातिवादी नहीं होते, बाकी सभी–105, क्या 'पत्थरोंवाली सरकार' का शोर मचाने वाले भाजपा के मित्र नहीं लगते!–106, धर्मभीरु जय श्रीकृष्णवादी बनाम धर्म के ठेकेदार जय श्रीरामवादी!–106, बीएसपी : शंका और समाधान!–107, बसपा को ही क्यों वोट दें-1–ग्रामीण भारत के विकास की अबतक की सर्वोत्तम योजना : अंबेडकर ग्राम योजना–108, बसपा को ही क्यों वोट दें-2–ठेकों में आरक्षण : आंबेडकर ग्राम योजना के बाद मायावती का एक और ऐतिहासिक कार्य–109, बसपा को ही क्यों वोट दें-3–अपराधियों के लिए आतंक का दूसरा नाम : मायावती–112, बसपा को ही क्यों वोट दें-4–क्योंकि मायावती आधुनिक भारत का पुष्यमित्र शुंग हैं!–113, बसपा को ही क्यों वोट दें-5–अगर आप ब्राह्मणवाद

विरोधी हैं तो बसपा को वोट करने से बेहतर कोई विकल्प है!–114, बसपा को ही क्यों वोट दें-6–क्योंकि बसपा ही अप्रतिरोध्य भाजपा का खात्मा कर सकती है!–115, बसपा को ही क्यों वोट दें-7–क्योंकि दलित-मुस्लिम एकता से नई सामाजिक सृजनशीलता पैदा होगी।–117, बसपा को ही क्यों वोट दें-8–क्योंकि सामाजिक न्याय के प्रश्न पर भारतीय राजनीति को केन्द्रित करने वाली पार्टी बसपा है!–117, बसपा को ही वोट क्यों दें-9–मायावती एक बार फिर यूपी की सत्ता पर काबिज होने जा रही हैं–118, सावधान! बहन जी आ रही हैं–119, यूपी चुनाव में क्यों गायब है : सामाजिक न्याय का मुद्दा!–119, ओबामा बनने के चक्कर में मारे गए : बहुजन नायक-नायिका!–120, बहुजन हितों की इकतरफा हिमायत कर सत्ता दखल करने वाले : दो नेता–121, एग्जिट पोल से शुरू : मेरा पूर्वानुमान–122, बहुजनों का खेल खत्म!–123, पराजित मूलनिवासी समाज के एक लेखक की ओर से हेडगेवारवादियों को अग्रिम बधाई!–123, यूपी चुनाव परिणाम की घोषणा शुरू होने के आधे घंटे पहले से जारी मेरे पोस्ट–123, सहस्राधिक वर्षो के बाद आज होगा : मुकम्मल हिन्दू-राज!–123, आज से बहुजनों की गुलामी के नए दौर की शुरुआत हो सकती है–124, भाजपा की शक्ति से अनजान : यूपी का अदूरदर्शी बहुजन नेतृत्व–125, भाजपा के सर पर प्रत्याशा का अभूतपूर्व बोझ!–126, मोदी की काट के लिए : मेश्राम–127, अब सारे सरकारी उपक्रमों को तेजी से निजी क्षेत्र के हाथों में जाना ही है–127, हार का ठीकरा ईवीएम पर फोड़ने वालों को चुनाव आयोग की चुनौती–129, कांशीराम जहाँ छोड़ गए, मायावती वहां से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पाई!–129

अध्याय-3 : यूपी का जनादेश **131**

बसपा की दुर्दशा का कारण : कांशीराम के भागीदारी दर्शन से दूरी–133, कांशीरामवाद पर हेडगेवारवाद की जबरदस्त विजय–136, आंबेडकरवाद से विचलन का परिणाम–139, भीम आर्मी : स्थापित दलित नेतृत्व से निराशा का परिणाम–143, उत्तर प्रदेश : ग्राम्शी के वर्चस्वता सिद्धांत की प्रयोग स्थली–146, क्या लालू मोदीराज के खात्मे के प्रति गंभीर हैं!–149, भारत की जरुरत : राम मंदिर या सामाजिक अन्यायमुक्त भारत निर्माण–153, भाजपा की शक्ति के स्रोत–156, बहुजनवादी दलों की शक्ति का स्रोत!–160

भूमिका

प्रायः लोग नकारात्मक नाम रखने से परहेज करते हैं। मेरे ख्याल से, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत हद तक यह स्वीकार्य है एक तथ्य के रूप में। किन्तु ऐसा मानना कि सिर्फ नाम बहुत सकारात्मक हो—सर्वथा और निर्विवाद रूप से— सिर्फ और सिर्फ हिपोक्रेसी होगी। श्री एच. एल. दुसाध को कम से कम हिपोक्रेट की श्रेणी में नही रखा जा सकता।

'बहुजन राजनीति का पतन' एक काबिल दस्तावेज का खिताब पाने की सारी योग्यताओं से आच्छादित है। भाषा प्रायः स्व-स्फूर्त, बहुत निजी व बेबाक है। बातें बिना किसी लाग लपेट की कही गयी हैं जबकि तथ्यों को मसाले में मैरिनेट किये बगैर परोसा गया है। तथ्यपरकता असाहित्यिक पुस्तकों की मर्यादा के बिकुल अनुरूप है। एकदम शुद्ध एवं वस्त्रहीन—जैसे हम पहली बार पृथ्वी पर आते समय होते हैं। लेखक की ईमानदारी कदाचित सराहनीय होने के साथ-साथ अनुकरणीय है।

यह पुस्तक लेखक द्वारा रचित एवं प्रकाशित लेखों का संकलन है जिसे हजारों पाठक पढ़ चुके हैं, और अपनी राय भी दे चुके हैं। आश्चर्यजनक रूप से महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक ने उन तथ्यों के साथ कोई भी छेड़छाड़ नही की है, जो मूल लेखों में अन्यत्र यथा—अखबार, दैनिक पत्र-पत्रिकाएं व फेसबुक पर प्रकाशित हुए थे। हालाकि उनके पूर्वानुमान गलत भी हुए थे किन्तु अन्यों की भांति श्री दुसाध अपने 'स्टैंड' बदलने में दक्ष नहीं है। यह एक अत्यंत एक्सिंक्ट होती हुई लेखकीय गुण है, शील है।

लेखक ने जो दृष्टांत प्रस्तुत किये है वो अत्यंत प्रासंगिक, यथार्थपरक, युक्तिसंगत व तथ्यों को निपुणतापूर्वक संचारित करने में सक्षम हैं। ये दृष्टांत लेखक के परिमार्जित व असाधारण विचारों को साधारण अभिव्यक्ति प्रदान करने में महती भूमिका निभाने वाले हैं। द्रष्टव्य है कि दृष्टान्त महज मनोरंजन हेतु नहीं दिए गए है। तथ्यों का विश्लेषण शुद्ध रूप से व्यक्तिगत है, दृष्टिकोण एकदम मूल एवं व्याख्या सर्वथा स्वीकारोग्य है। प्रस्तुत पुस्तक में शब्दों को शब्दों के ऊपर जबरदस्ती नही चढ़ाया गया है। यह एक बेहद ईमानदारीपूर्वक संग्रह किये गये तथ्यों का नायाब संकलन है। साहित्यकारों की भाषा परम्परा के विपरीत, इस पुस्तक की भाषा लच्छेदार व जटिल मुहावरों से सर्वथा विमुक्त, आमजनों की शब्दावली में अभिव्यक्त की गयी साफगोई है।

तथ्यों को प्रस्तुत करने की लेखक की दक्षता प्रायः एक्सेम्प्लरी है। पुस्तक में दिए गये अन्वेषण, इंटरप्रिटेशन एवं एक्स्प्लानेशन की दक्षता बेहद तीक्ष्ण एवं

मौलिक है। इस पुस्तक को लेखक के निजी स्तर पर किये गये अन्वेषण से फलित परिणामों का विश्वसनीय संग्रह मानना गलत नहीं होगा। जो दृष्टान्त और उदाहरण इस पुस्तक में दिए गये हैं, वो काफी जांचे-परखे व रिलेवेंट हैं। लेखक ने दृष्टान्तों के माध्यम से आउट ऑफ बॉक्स आईडिया दिया है। उदाहरणस्वरुप, प्रायः भारत में रहनेवाले बहुजन समुदाय के लोग बराक ओबामा के अमेरिका के राष्ट्रपति बनने की घटना को जिस तरह से देखते हैं, उनसे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण लेखक ने दिखाया है। यह लेखक के खोजी प्रवृति का एक बड़ा दिलचस्प उदहारण है। बराक ओबामा के राष्ट्रपति बनने की घटना युगांतकारी और ऐतिहासिक घटना थी, इसमें किसी को भी कोई दुविधा नही होनी चाहिए। भारत के बहुजनो में खुशी की लहर दौड़ी नहीं थी तो कम से कम चली जरुर थी। किन्तु सच्चाई सर्वथा पृथक है। बराक ओबामा अमेरिका के नर-पशुओं के प्रतिनिधि के रूप में देखे गये थे। दुर्भाग्य की बात यह है कि ओबामा अमेरिका के वंचित लोगों की समस्याओं को उस दमदार तरीके से संबोधित नहीं कर पाए जिस दमदार तरीके से अमेरिकन पॉलिटिक्स में उनका पदार्पण हुआ था। उन्होंने भी गोरे अमेरिकनों की तुष्टिकरण की नीति अपनाई और काले लोगों के मसलों को प्रायः नजरंदाज किया। शायद वो भारतीय राजनीतिज्ञों की तरह ही यह मानकर चल रहे थे कि इन कालों के पास उन्हें वोट देने के सिवा कोई विकल्प नहीं है। ब्लैक्स का अमेरिका में संख्या-विपुल न होना भी एक महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है।

तो सवाल है कि क्या मान लिया जाये कि बहुजन राजनीति चौराहे पर आकर खड़ी हो गयी है? और यदि खड़ी हो भी गयी है तो क्या इसमें कूवत है कि हरी बत्ती जलने तक ये अपना रास्ता चुन ले।

राजनीति समाज के संगठित जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रियाकलाप है। सामान्यतः यदि हम यह बताने कि कोशिश करें कि समग्रता के स्तर पर देखे तो सामाजिक या राजनीतिक चिंतन के बिना जीवन कठिन है तो शायद उत्तर मिले कि नहीं, आप गलत हैं। परन्तु, सच्चाई एकदम उलट है। राजनीतिक चिंतन के बगैर जो जीवन गुजर रहा है, वह एक आधी-अधूरी फिल्म कि तरह है जो हम देख तो लेते हैं किन्तु उसका सम्पूर्ण मजा नहीं ले पाते।

''एक व्यक्ति के रूप में सोचना गुनाह है। हमेशा एक संगठन के रूपों में सोचे,'' उक्त बातें ची गुवेरा ने कही थी। हमारी समस्याएं तो कम से कम हमें एक सूत्र में बांध कर रख सकें। संगठन अपरिहार्य है। आन्दोलन अवश्यम्भावी है अगरचे कि यह अभी भी सुसुप्तावास्था में है।

हमारी संख्या बड़ी है, किन्तु इस छद्म-प्रजातंत्र में भी अच्छी बात यह है कि सबके—दलितों के भी—मतों का समान महत्व अभी भी है। वरना, व्यंग्य में ही सही किन्तु जॉर्ज ओरवेल ने बहुत सही बात कही है—सारे जानवर (इंसान)

एक सामान हैं, बराबर हैं, तथापि कुछ जानवर कुछ अन्य जानवरों की तुलना में ज्यादा बराबर हैं।

किसी कवि की ये पंक्तियाँ काफी सार्थक प्रतीत हो रही हैं।

फैसले खड़े-खड़े होंगे,
धराशायी बड़े-बड़े होंगे,
बहुत देखे हमने नापने वाले,
दंभ भर-भर के कांपने वाले,
ना डर अनजान भय से,
दो-दो हाथ करने होंगे पराजय से,
वक्त है, दस्तूर है, बहुजनों की जय-जय हो,
प्राथमिकतायें अब तय हो।

दक्षिण भारत के बहुजन लेखक कान्चा इलैया ने अपनी किताब 'बफैलो नेशनलिज्म' में लिखा है कि बहुजन, खासकर बहुजन युवा का इस्तेमाल उन्हीं के स्वार्थो के खिलाफ सवर्ण राजनीतिज्ञों के द्वारा बखूबी किया गया। कैटलिस्ट की भूमिका किसी भी अनुक्रिया के लिए प्री-रिक्विजिट है, धर्म इस सदी का सबसे बड़ा कैटलिस्ट बनकर उभरा है। पहले भी था। किन्तु आज के इस इक्कीसवीं सदी में धर्म का इतना अधिक प्रासंगिक होना भी एक घोर आश्चर्य की घटना है। 'लोहा-लोहा को काटता है' के सिद्धांत पर 'नशा-नशा को काटता है' का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया जा सकता है। रेलिजन इज ओपियम - अर्थात, धर्म अफीम के नशा की तरह है। इससे ज्यादा प्रभावकारी नशा तलाशना होगा। राष्ट्रवाद की तरह बहुजनवाद का नशा बहुजन युवाओं के रगों में उतारना होगा। जूनून किसी सार्थक कारण ब्रेव कॉज के लिए होना चाहिए। जिस देश में लोगों को भरपेट भोजन न नसीब हो, वह धर्म के लिए आन्दोलन करें, गरीबी का परिहास है। उसके ऊपर 'आजादी की शान निराली वाली' भाषण-बाजी फूस की झोपड़ियों में इटालियन झाड़-फानूस लगाने जैसा प्रतीत होती है।

सवाल ये भी लाजिमी है कि क्या फकत किताबें लिखकर परिवर्तन लाया जा सकता है? हलांकि यह एक यक्ष प्रश्न है, तथापि इसके अपने निहितार्थ हैं, सवाल मौजू है। जवाब में बस इतना कहना भी काफी होगा कि बहुजनों तक यह किताब और इस तरह की तमाम किताबों के सन्देश अगर पहुंच जाये, और यदि लोगों को कायदे से इसमें निहित तथ्यों से अवगत करवा दिया जाये तो निश्चित रूप से किताब से परिवर्तन भी आ सकता है। यह महज एक यूटोपिया नहीं है, इतिहास भी इसका साक्षी है।

दीवारों पे लिखी इबारतों को ना पढ़ पाने की भायानक गलती हमारे बहुजन नेता करते आए हैं, कमोबेश सारे चुनावों में। कम से कम हाल के दो चुनावों

के सन्दर्भ में तो ये बाते पक्के तौर पे कही ही जा सकती हैं। हमारे बहुजन नेतृत्व को चाहिए कि लिहाफ हटाकर बाहर निकलें और लोगों से मिले और उन्हें इस बात का आश्वासन दें कि उनकी अस्मिताएं, उनके सरोकार ही अगली सरकार की प्राथमिकतायें बनेंगी। बस जरूरत होगी तो एक अभेद्य ट्रस्ट मेकनिज्म तैयार करने की।

हम ऑर्गनाइज, चैनलाईज करने में फेल हुए हैं, डिलीवर करने में भी फेल हुए हैं। भूल सुधार की गुंजाईस है किन्तु, निम्नलिखित बिन्दुओं पर बेहद संजीदगी से चिंतन करना होगा, वैसे आत्म-मंथन और चिंतन का समय 2017 के पूर्वार्द्ध में ही समाप्त हो गया था। अब वक्त है एक्शन का। चिंतन मात्र एक्स्ट्रा सप्लीमेंट की तरह लेना होगा।

1. मजबूत कनेक्ट मेकानिज्म
2. स्पष्ट बहुजन हित वाला एजेंडा व मैनिफेस्टो
3. बहुजन बुद्धिजीवियों का समुचित पोषण व सम्मान
4. राजनैतिक परिपक्वता व दूरदर्शिता का अभाव
5. युवाओं को राजनैतिक प्रोन्नति के पर्याप्त अवसर
6. भाषाओं के जानकार एवं सूचनाओं से लबरेज बहुजन युवा प्रवक्ताओं की नियुक्ति
7. मीडिया मैनेजमेंट
8. बहुजन एंट्गोनिस्म एवं आक्रोश का समुचित संबोधन
9. अन्दर से बदलाव
10. डाइवर्सिटी

प्रस्तुत पुस्तक खरी-खरी बातें करती है, बिना किसी लाग-लपेट के। यह एक अचम्भा वाली बात है। राजाओं के समय से लेकर आज तक दरबारी लेखकों का वर्चस्व रहा है वृहद् लेखन साम्राज्य पर। दुर्लभ चीजों को देखने लोग दूर-दूर तक जाते हैं। आपके हाथ में भी एक दुर्लभ किस्म की ही चीज है। लेखक की वैज्ञानिक सोच, तटष्ठ एवं निष्पक्ष मंतव्य, कोल्लोकुइअल- बोलचाल की भाषा, सटीक एवं जीवंत उदाहरण, आउट ऑफ बॉक्स आइडियाज, मौलिक दृष्टिकोण एवं मौलिक समालोचना इस पुस्तक को अत्यंत पठनीय बनाती है।

मैं लेखक द्वारा उठाये गये कदम एवं उनके ईमानदार प्रयासों की भूरि-भूरि प्रसंशा करता हूँ। इस पुस्तक की सफलता आपके हाथ से दूसरे हाथ में जाने में निहित है।

जय भीम

रवि गुप्ता
लेखक, कवि एवं शिक्षाविद

अपनी बात

11 मार्च, 2017 को पांच राज्यों, विशेषकर यूपी का चुनाव परिणाम आने के बाद जिस तरह से बहुजन समाज (दलित, आदिवासी, पिछड़े और इनसे धर्मान्तरित समुदाय) निराशा की अतल गहराइयों में डूबा और जिस तरह आज यह खून के आंसू रो रहा है, उसे देखते हुए मैं इस पुस्तक को आज के भारत की ज्वलंत समस्यायें शृंखला में डालना चाहता था। ऐसा करने पर जिस तरह 2008 से मैने 'तेज विकास रोशनी से वंचित बहुजन समाज' से ज्वलंत समस्याओं की शृंखला शुरू किया, उस कड़ी की यह बीसवीं किताब होती। लेकिन इस इरादे का परित्याग किया तो इसलिए कि इसी विषय पर, इसी शृंखला की सातवीं पुस्तक मेरे संपादन में 2009 में आ चुकी थी। पुस्तक का नाम भी प्रायः इसी से मिलता जुलता था, 'सामाजिक न्याय की राजनीति की हार'। 2009 के अगस्त में प्रकाशित वह पुस्तक भी प्रायः आज के ही हालात में तैयार हुई थी । तब मई 2009 में आये 15 वीं लोकसभा चुनाव परिणाम के बाद बहुजन समाज 2017 की भांति ही निराशा में डूबा था और मुझे वह किताब तैयार करने का निर्णय लेना पड़ा था। कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुस्तक उसी का विस्तार है।

2009 : सामाजिक न्याय के लिए खतरे की घंटी

उस पुस्तक के तैयार करने का सबब बताते हुए मैंने लिखा था-' कहना न होगा 15 वीं लोकसभा का चुनाव परिणाम आने से मुझ जैसे करोड़ों लोगों को आघात लगा । कारण, सामाजिक न्याय के झंडाबरदारों की दुखद परिणति और काग्रेस-भाजपा जैसे सवर्णवादी दलों द्वारा पिछले चुनाव की तुलना में 39 और ज्यादा सीटें जीतने से राजनैतिक गैर-बराबरी के खात्मे प्रति संसय पैदा हो गया है। यही नहीं मंडलोत्तरकाल में राजनैतिक रूप से सचेत हुआ बहुजन जहां धीरे-धीरे यह उम्मीद पालना शुरू कर दिया कि एक दिन वर्ण-व्यवस्था के वंचित केन्द्रीय सत्ता पर कब्ज़ा जमा कर सम्पदा संसाधनों में अपना प्राप्य ले लेंगे, वहां सामाजिक न्यायवादी राजनीति की शिकस्त ने उन्हें निराशा के आगोश में ले लिया है।' (**सं. दुसाध, एच.एल., सामाजिक न्याय की राजनीति की हार, पृ.-10**)। निश्चय ही 2009 सामाजिक न्याय की राजनीति के लिए खतरे की घंटी था, जिसे ध्यान में रखकर एजेंडा न तय कर पाने के कारण बहुजनवादी दलों को 2014 में 2009 से भी बड़ा और 2017 में सबसे बड़ा आघात झेलना पड़ा।

2009 में इनकी हार के कारणों पर आलोकपात करते हुए मैंने लिखा था,

'जिनके समर्थन के दायरे में विशाल बहुजन समाज आता हो, उनका अल्पजनों के समर्थन पर निर्भर दलों के सामने आत्मसमर्पण के मुद्रा में आना निश्चय ही लोगों को विस्मित करेगा। पर, इसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं है। दरअसल विगत वर्षों में इन्होनें बहुजन समाज को अपने वोटों के गुलाम से भिन्न रूपों में देखा ही नहीं। ये यह मानकर निश्चिन्त थे कि इनके लिए कुछ नहीं भी करने पर उनका वोट उन्हें मिलेगा ही मिलेगा इसलिए उन्होंने अपना सारा ध्यान न सिर्फ सवर्णों पर लगाया, बल्कि उसके हिसाब से अपना एजेंडा भी तय किया। यही कारण है चुनाव के बहुत पहले से उन्होंने जितना शोर सवर्णो के आरक्षण के लिए मचाया, उसके मुकाबले बहुजनों की भागीदारी पर प्रायः चुप्पी साधे रखा। यह सारी कवायद उन्होंने खुद की छवि जाति-मुक्त नेता के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए किया। इस स्कीम के तहत ही इन लोगों ने तिलक-तराजू और तलवार..भूराबाल साफ़ करों इत्यादि नारों से पल्ला झाड़ने की कोशिश किया। यह भारतीय समाज के सदियों के विशेषाधिकारयुक्त व सुविधासंपन्न तबकों, जिनका सम्पदा-संसाधनों पर आज भी 80-85 प्रतिशत कब्ज़ा है, के विरुद्ध उछाले गए वे नारे थे, जिनसे सामाजिक अन्याय के खात्मे की उम्मीद जगी थी। यही वे नारे थे जिसने लोहिया और कांशीराम के सपनों को साकार करने का बीड़ा उठाने वालों को फर्श से अर्श पर पहुंचा दिया था। यह बात जोर गले से कही जा सकती है कि सामाजिक अन्याय के खात्मे की लड़ाई से दूर भागने के कारण ही लोहिया और कांशीराम की विरासत संभालने वालों का बुरा हाल हुआ था।' (**वही, पृष्ठ-12**)।

ऐसा नहीं कि 2009 में सामाजिक न्याय की राजनीति पर मैं ही निराशा व्यक्त किया। नहीं, ढेरों बहुजन और गैर-बहुजन विद्वानों की जो असंख्य टिप्पणियां प्रकाशित हुई, उनमें भी कुछ-कुछ ऐसी ही बात कही गयी । किन्तु मुझे सर्वोत्तम लगी थी महान बहुजन पत्रकार दिलीप मंडल की टिपण्णी।

मंद पड़ने लगी है सामाजिक न्याय की राजनीति

मंडल ने लिखा था—'वर्ष 2009 के लोकसभा चुनाव में हिंदी पट्टी के दो राज्यों, बिहार और यूपी की राजनीति की एक हकीकत उजागर हो गयी है। लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान, मायावती और यूपी में सबसे ज्यादा सीटें जीतने के बावजूद मुलायम सिंह यादव, ये सभी महारथी अपनी चमक खो चुके हैं। इसके साथ ही भारतीय राजनीति व्यवस्था में वंचित समूहों की हिस्सेदारी बढ़ने की जो प्रक्रिया लगभग 20 साल पहले शुरू हुई थी, उस मॉडल के नायक-नायिकाओं का निर्णायक रूप से पतन हो चुका है। हालाकि यह सब एक दिन में नहीं हा है लेकिन अब वह समय है, जब इसके पतन और विखंडन की प्रक्रिया पूरी हो रही है। सामाजिक न्याय की राजनीति का सफ़र जिस उम्मीद से शुरू हुआ था, उसे

याद करें तो इन मूर्तियों का इस तरह गिरना और नष्ट होना तकलीफ देता है।

बात सिर्फ इतनी सी नहीं है। लालू प्रसाद यादव का राजनीतिक वजूद घट गया है और उनकी पार्टी सिर्फ चार सीटें जीत पाई है, या रामविलास पासवान की पार्टी का अब लोकसभा में अब कोई नामलेवा नहीं बचा है। न ही इस बात का निर्णायक महत्त्व है कि प्रधानमंत्री की कुर्सी तक पहुँचने का ख्वाब सजों रही मायावती की पार्टी का प्रदर्शन इस लोकसभा चुनाव में बेहद ख़राब रहा। मुलायम सिंह के पार्टी का प्रदर्शन पिछले लोकसभा चुनाव के मुकाबले खराब होने का भी निर्णायक महत्त्व नहीं है । अहम बात यह है कि इनसे राजनीति के जिस मॉडल की बागडोर सँभालने की अपेक्षा की जा रही थी और इनके जनाधार की जो महत्वाकांक्षाएं थी, उसे पूरा करने में सभी नाकामयाब हो चुके हैं। यह एक सपने के टूटने की दास्तान है। यह सपना था भारत को बेहतर और सबकी हिस्सेदारी वाला लोकतंत्र बनाने और देश के संसाधनों पर खासकर वंचित समूहों की हिस्सेदारी दिलाने का। मायावती की बात करें तो दो दशक पहले जिस तेजतर्रार नेता को देश ने उभरते हुए देखा था, अब की मायावती उसकी छाया भी नहीं लगतीं।' (**मंडल, दिलीप, मंद पड़ने लगी है सामाजिक न्याय की राजनीति, नवभारत टाइम्स, 25 मई, 2009**)

2009 से भी बदतर : लोकसभा चुनाव-2014

मंडल साहब ने 2009 में सामाजिक न्यायवादी नेतृत्व के निर्णायक तौर पर पतन की जो मोहर लगाया था, वह औरों को कितना स्पर्श किया, मुझे नहीं पता। किन्तु उनके उस कथन से काफी हद तक सहमत होते एवं उनको उद्धृत करते हुए मई, 2009 के बाद, खासकर सोलहवी लोकसभा चुनाव के दौरान मैंने ढेरों लेख लिखे, जो मेरी 184 पृष्ठीय पुस्तक **'लोकसभा चुनाव -2014 : भारतीय लोकतंत्र के ध्वंस की दिशा में एक और कदम'** में संकलित हैं। इन अधिकाँश लेखों में मैंने मंडल साहब को उद्धृत करते करते हुए बार-बार यह याद दिलाया था -' यदि माया-मुलायम, लालू-पासवान इत्यादि को अपनी स्थिति नए सिरे से पुख्ता करनी है तो उन्हें शक्ति के सभी स्रोतों में लोहिया, जगदेव प्रसाद और सर्वोपरि कांशीराम के भागीदारी दर्शन पर अपनी राजनीति खड़ी करनी होगी। खासतौर से मायावती के लिए ऐसा करना इसलिए जरुरी है क्योंकि घर-गृहथी न बसाकर, उन्होंने अपना सारा जीवन सामाजिक न्याय के महानायकों फुले-शाहूजी-पेरियार-बाबासाहेब-कांशीराम के सपनों के भारत निर्माण के प्रति समर्पित कर रखा है (**दुसाध, एच.एल., लोकसभा चुनाव-2014 : भारतीय लोकतंत्र के ध्वंस की दिशा में एक और कदम, पृ-54**)। 2014 के आम चुनाव में मेरी ही तरह असंख्य बहुजन बुद्धिजीवियों ने अखबारों में तो नहीं, किन्तु सोशल मीडिया पर बेहिसाब लेखन करके बहुजन नेताओं को सामाजिक न्याय से जुड़े मुद्दे पर चुनाव केन्द्रित करने का दबाव बनाया। किन्तु

सब व्यर्थ साबित हुआ। उन्होंने 2009 की शर्मनाक पराजय से कोई सबक न लेते हुए 2014 में भी सवर्णपरस्ती का दामन थामे रखा । फलतः 2017 में 2014 के मुकाबले उनका वह हस्र हुआ जिसकी कल्पना उनके बड़े से बड़े दुश्मन तक भी नहीं कर सकते थे। 2009 में जिन्हें मंडल साहब की टिपण्णी को लेकर संदेह हुआ, मई, 2014 के बाद शायद उनको भी सामाजिक न्याय के नायक/ नायिकाओं के पतन का यकीन हो गया।

और 2014 से भी बदतर साबित हुआ : 2017

2014 की कल्पनातीत पराजय के बाद सामाजिक न्याय के समर्थकों को लगा कि बहुजन नेता/नेत्री अपना वजूद बचाने के लिए निश्चित रूप से सामाजिक न्याय की राजनीति की ओर लौटेंगे। किन्तु यह भ्रम साबित हुआ। अपवाद रूप से एकमात्र सबक लिए लालू प्रसाद यादव जिन्होंने बिहार विधानसभा चुनाव-2015 को मंडल बनाम कमंडल का रूप देकर अप्रतिरोध्य से दिख रहे मोदी को गहरी शिकस्त दे दिया। (**पढ़ें तीसरे अध्याय के पृष्ठ-149 पर छपा लेख : क्या लालू मोदी राज के खात्मे के प्रति गंभीर हैं**)। लालू प्रसाद यादव ने लोकसभा चुनाव -2014 की हार से सबक लेते हुए अपने चिर प्रतिद्वंदी नीतीश कुमार से हाथ मिलाने के बाद जिस तरह मोहन भागवत के बयान को आधार बना कर चुनाव को सामाजिक न्याय की राजनीति पर केन्द्रित किया, उससे अपराजेय से दिख रहे मोदी के समक्ष हार वरण करने के सिवाय कोई उपाय ही नहीं रहा। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि चुनाव को सामाजिक न्याय की राजनीति पर केन्द्रित करने पर भाजपा कभी जीत ही नहीं सकती।

बिहार मॉडल को अपनाने से दूर रहे : माया-अखिलेश

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सामाजिक न्याय समर्थक तमाम बुद्धिजीवियों ने यूपी चुनाव को 'बिहार मॉडल ' पर लड़ें जाने में सर्वशक्ति लगा दिया। किन्तु मायावती और अखिलेश न तो लालू- नीतीश की भांति सवर्णवादी भाजपा को रोकने के गठबंधन की दिशा में आगे बढे और न ही चुनाव को सामाजिक न्याय पर केन्द्रित करने में कोई रूचि लिये। हालांकि संघ प्रचारक मनमोहन वैद्य और सपा की अपर्णा यादव के आरक्षण विरोधी बयानों ने यूपी चुनाव को सामाजिक न्याय पर केन्द्रित करने के लिए लालू के मुकाबले मायावती के समक्ष बेहतर अवसर सुलभ करा दिया था। पर, शायद सर्वजनवाद को अक्षत रखने के लिए वह उस दिशा में अग्रसर नहीं हुई। बहरहाल मायावती जहां आधे अधूरे मन से आरक्षण और मुस्लिम कार्ड खेलती रहीं, वहीं अखिलेश यादव अपने कार्यकाल में हुए एक्सप्रेस

वे, मेट्रो जैसे विकास कार्यों के प्रति पूर्ण आशावादी बने रहे। फलतः एक ऐसा चुनाव परिणाम इतिहास के पन्नो में दर्ज हुआ, जिसे बहुजन नजरिये से एक शब्द में 'दुःस्वप्न' ही कहा जा सकता है।

बसपा के पक्ष में हवा बनाने में मुस्तैद रहे अधिकांश बहुजन बुद्धिजीवी

यूपी विधानसभा चुनाव को सामाजिक न्याय पर केन्द्रित करने का मैंने अपनी ओर से जो तुच्छ प्रयास किया, वह पुस्तक के पहले और दूसरे अध्याय में दर्ज है। इस चुनाव परिणाम पर मेरी राय है कि यह कांशीरामवाद पर हेडगेवारवाद की विजय है। (**देखें तीसरे अध्याय में पृष्ठ 136 पर छपे मेरा लेख 'कांशीरामवाद पर हेडगेवार की जबरदस्त विजय'**)। बहरहाल इस चुनाव में मैने निरपेक्ष न रहकर, बसपा के पक्ष भरपूर कलम चलाया है। ऐसा क्यों किया इसका स्पष्टीकरण देते हुए पुस्तक के दूसरे अध्याय के 'बीएसपी : शंका और समाधान' लेख में मैंने लिखा है -'ऐसा इसलिए कि कुछ कमियों और सवालों के बावजूद राष्ट्रवादी, गांधीवादी, लोहियावादी और मार्क्सवादी दलों के मुकाबले आंबेडकरवादी बसपा ही एकमात्र वह दल है जो काफी हद सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य को पूरा कर सकती है और मायावती ही वह नेत्री हैं जो उत्तर प्रदेश जैसे बर्बर राज्य को योग्य प्रशासन दे सकती हैं..।'

यूपी विधानसभा चुनाव बसपा के समर्थन में सिर्फ मैंने ही भूरि-भूरि लेखन नहीं किया, अधिकांश बहुजन बुद्धिजीवियों ने ही इसके पक्ष में अपनी ताकत झोक दिया। वे चुनाव के शेष चरण तक बसपा के पक्ष में फिजा बनांते हुए लोगों में यह सन्देश देने का प्रयास करते कि मायावती की वापसी हो रही है है। (**पढ़ें पुस्तक के दूसरे अध्याय में पृष्ठ 119 पर प्रकाशित पोस्ट-'सावधान! बहन जी आ रही हैं'**)। बहरहाल अपनी ओर से बसपा के लिए सर्वशक्ति लगाने के बावजूद मैं चुनाव का आखरी चरण आते-आते इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि भाजपा भारी बहुमत से सत्ता में आ रही है। इसीलिए मैं 11 मार्च को चुनाव परिणाम आने के दो दिन पहले ही अपनी ओर से परिणाम बताते हुए 11 मार्च की दोपहर तक मुकम्मल हिन्दूराज के कायम होने की घोषणा कर दिया। (**देखें दूसरे अध्याय के एग्जिट पोल से शुरू : मेरा पूर्वानुमान से लेकर भाजपा की शक्ति से अनजान : यूपी का अदूरदर्शी नेतृत्व, पृष्ठ 122-125**)। बहरहाल आज की तारीख में 16 जून, 2009 को जनसत्ता में 'मायावती का चरित्र और व्यक्तित्व' शीर्षक से प्रकाशित अरुण कुमार पानीबाबा के लेख के इस निष्कर्ष से काफी हद तक सहमत होने लिए विवश हूँ कि 'कांशीराम जहां छोड़कर गए, मायावती वहां से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ी हैं।'

बहुजन राजनीति के पतन का मतलब : सामाजिक न्याय की राजनीति का पतन नही

मैं पाठकों से निवेदन करूँगा की बहुजन राजनीति के पतन का अर्थ सामाजिक न्याय की राजनीति का पतन नहीं है। ऐसा मैं 2009 से ही कह रहा हूँ। 2009 में मैंने अपनी पुस्तक 'सामाजिक न्याय की राजनीति की हार 'पुस्तक के पृष्ठ 12 पर लिखा था-'हमने सामाजिक न्याय के नायक नायक-नायिकाओं की हार को सामाजिक नया की राजनीति की हार मान लिया है। जबकि सच्चाई यह है कि हार सामाजिक न्याय की राजनीति नहीं, सामाजिक न्याय के नाम पर राजनीति करने वाले ऐसे नेताओं की हुई है जो राजनीति को मिशन से प्रोफेशन बना लिए थे। इन्होने अगर चुनाव में सामाजिक न्याय का मुद्दा जोर-शोर से उठाया होता और चुनाव परिणाम ऐसा ही रहता, तब माना जा सकता है कि सामाजिक न्याय की राजनीति की हार हुई है, 2009 में जो हुआ, वही 2017 में भी हुआ है। इस चुनाव में भी सामाजिक न्याय का मुद्दा नहीं उठाया गया। ऐसे में कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय की राजनीति अभी अक्षत है, इसका टेस्ट होना बाकी है। चूँकि इसका अभी बढ़िया से टेस्ट नहीं हुआ है, इसलिए बहुजन नेता/नेत्रियों से भले ही हम निराश हो जाएं किन्तु, सामाजिक न्याय की राजनीति के प्रति आशावादी बने रहा जा सकता है।

× × ×

2019 : बहुजनों के इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई

11 मार्च, 2017 के बाद अतीत की भांति एक बार फिर उम्मीद बंधी कि बहुजन नायक/नायिका अपनी वजूद रक्षा के लिए शायद फिर सामाजिक न्याय के पक्ष में अलख जगाने के लिए खुलकर सामने आयेंगे। विगत छः माह में ऐसे कई अवसर आये भी पर, वे पूर्व की भांति ही सामाजिक न्याय का मुद्दा उठाने से बचते नजर आए। ऐसा लगता है, वे मृत-प्राय हो गए हैं। लेकिन 2019 के लोकसभा चुनाव को ध्यान में रखते हुए इस स्थिति से उबरना पूरे देश, विशेषकर हिंदी पट्टी के बहुजन नेतृत्व के समक्ष इतिहास की एक बड़ी मांग बन गयी है.

स्मरण रहे भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है, जिसमें 7 अगस्त, 1990 को मंडल की रिपोर्ट आने के बाद एक नया मोड़ आ गया। इसके फलस्वरूप जहां हजारों साल से शक्ति के स्रोतों से वंचित शूद्रों (ओबीसी) को सरकारी नौकरियों में शेयर मिला, वहीं बहुजनों की जाति चेतना के राजनीतिकरण का ऐसा लम्बवत विकास हुआ कि शक्ति के स्रोतों पर हजारों साल से 80-85 प्रतिशत कब्ज़ा जमाया विशेषाधिकारयुक्त व सुविधासंपन्न वर्ग राजनीतिक रूप से लाचार

समूह में तब्दील होने के लिये अभिशप्त हुआ। तब मंडलवादी आरक्षण से आक्रोशित होकर उनके विभिन्न गुट अपने-अपने तरीके से आरक्षण के खात्मे के लिए सक्रिय हुए। इसके लिए जहां राष्ट्रवादी भाजपा ने राम मंदिर आन्दोलन छेड़ा, वहीं गांधीवादी कांग्रेस ने देश में भूमंडलीकरण की अर्थनीति शुरू किया। इस तरह से 24 जुलाई, 1991 के बाद से केंद्र में जितनी भी सरकारें आयीं, उन सभी का एकमेव लक्ष्य आरक्षण का खात्मा रहा है। इस मामले में नरसिंह राव, वाजपेयी और मनमोहन सिंह ने जितना काम दो दशकों में किया, मोदी ने उतना तीन वर्षो में कर दिखाया है। उसी मोदी को अब संघ परिवार राम मंदिर आन्दोलन के सहारे 2019 में फिर सत्ता लाने की तैयारियों में जुट गया है। और मोदी यदि 2019 में फिर सत्ता में आ जाते हैं, मूलनिवासियों की इतनी क्षति हो जाएगी जिसकी भविष्य में भरपाई प्रायः नामुमकिन हो जाएगी। ऐसे में 2019 में मूलनिवासियों को भारतीय इतिहास में सबसे बड़ी लडाई की मानसिक प्रस्तुती अभी से ले लेनी पड़ेगी। और हम नहीं मानते कि मृत-प्राय हो चुके बहुजन नेता/नेत्री 2019 में अपनी भूमिका अदा करने के लिए सामने नहीं आयेंगे। नहीं, आयेंगे और जरुर आयेंगे। बहरहाल अगर वे 2019 में अपनी ऐतिहासिक जिम्मेवारी के निर्वहन का मन बनाते हैं तो उन्हें नए सिरे से चैम्पियन सवर्णवादी दल भाजपा की स्थिति का आकंलन कर लेना पड़ेगा.

2019 में भाजपा में पेश करेगी और कठिन चुनौती

गत मार्च में पांच राज्यों का चुनाव परिणाम आने के बाद से भाजपा सदियों से शक्ति के स्रोतों पर 80-85 प्रतिशत कब्ज़ा जमाये विशेषाधिकारयुक्त व सुविधासंपन्न वर्ग को और संपन्न तथा मूलनिवासियों को पूरी तरह शक्तिहीन करने की सुपरिकल्पित योजना के तहत जहां एक ओर आरक्षण के खात्मे की कार्ययोजना पर और मुस्तैद हुई, वहीं दूसरी ओर वह 23 अगस्त, 2017 से आरक्षित वर्गो की एकता को पूरी तरह ध्वस्त करने के कुत्सित इरादे से आरक्षण के वर्गीकरण अर्थात बंदरबांट के मोर्चे पर पूरी तरह मुस्तैद हो गयी है। फिलहाल तो इसका लक्ष्य ओबीसी आरक्षण है पर, भविष्य में एससी/एसटी का भी आना तय है। आरक्षण का वर्गीकरण करने के फलस्वरूप चिरकाल से अभावों में रहे आरक्षित वर्गों के लोग, अपने नाममात्र के फायदे को देखते हुए, मोदी को सामाजिक न्याय का नया मसीहा मानने लग सकते हैं, जो कि भाजपा की योजना है। और जिस तरह देश की प्रायः सम्पूर्ण मीडिया, साधु-संत और सवर्ण लेखक-विद्वान भाजपा के साथ हो लिए हैं, उससे मुमकिन है कि बहुजन समाज की आरक्षण से कम लाभान्वित जातियां, मोदी को मसीहा मानने भी लगें। अगर ऐसा होता है तब तो सामाजिक न्याय का बिहार जैसा मुद्दा बेअसर हो जायेगा। बहरहाल पांच राज्यों के चुनाव के बाद भाजपा जहां एक ओर आरक्षण के वर्गीकरण के जरिये पहले से कमजोर बहुजन एकता को भविष्य

में खंड-खंड कर खुद की स्थिति और सुरक्षित करने जा रही है, वहीं अपनी शक्ति में इतना विस्तार कर ली है, जिसकी कल्पना कर विपक्ष के पसीने छूट जाएँ। (**देखें पुस्तक के तीसरे अध्याय में पृष्ठ 156 पर छपा लेख 'भाजपा की शक्ति के स्रोत'**)। लेकिन अपराजेय दिख रही महाशक्तिशाली भाजपा को 2019 में आसानी से शिकस्त दिया जा सकता है, यदि बहुजनवादी दल अपने शक्ति के स्रोतों का सद्व्यवहार करें तो।

बहुजनवादी दलों की शक्ति का स्रोत

इस पुस्तक में बहुजनवादी दलों की शक्ति के स्रोत पर आलोकपात करता एक लेख प्रकाशित किया गया है। (**पढ़ें तीसरे अध्याय में पृष्ठ 160 पर छपा लेख 'बहुजनवादी दलों की शक्ति के स्रोत'**) इसमें बताया गया है-'भाजपा के शक्ति के स्रोतों का अपार भंडार देखकर ऐसा लग सकता है कि बहुजनवादी दल अप्रतिरोध्य भाजपा के समक्ष बिलकुल असहाय हैं। न तो इनके पास संघ के मुकाबले दस प्रतिशत की भी हैसियत रखने वाला कोई सामाजिक संगठन है, और न ही धनपतियों, मीडिया, लेखकों का न्यूनतम समर्थन ही प्राप्त है। मोदी जैसे करिश्माई नेता की बहुजनवादी दलों तो क्या, दूसरे सवर्णवादी गैर-भाजपाई दलों तक में भी कल्पना करना दुष्कर है। पर, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सत्ता हासिल करने में संख्याबल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फैक्टर का काम करता और इसी संख्या-बल को ही अपने अनुकूल करने के लिए पार्टियों को धन-बल, मीडिया-बल, प्रवक्ताओं- कार्यकर्ताओं की भीड़ और कुशल नेतृत्व की जरुरत पड़ती है तो पता चलेगा भारत के बहुजनवादी दलों जैसी अनुकूल स्थिति पूरी दुनिया में अन्यत्र है ही नहीं। और ऐसा इसलिए है क्योंकि आज की तारीख में सदियों से सामाजिक अन्याय का शिकार बनाई गयी भारत के बहुजन समाज जैसी विपुलतम आबादी दुनिया में कहीं है नहीं।

वैसे तो सामाजिक अन्याय की कोई निर्दिष्ट परिभाषा नहीं है किन्तु, विभिन्न समाज विज्ञानियों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि नस्ल, जाति, लिंग, धर्म, भाषा, क्षेत्रादि के आधार पर विभाजित समाज के विभिन्न सामाजिक समूहों में से कुछेक का शासकों द्वारा शक्ति के स्रोतों से जबरन बहिष्कार ही सामाजिक अन्याय का कहलाता है। इस लिहाज से दुनिया में स्त्री के रूप में विद्यमान आधी आबादी सर्वत्र ही सामाजिक अन्याय का शिकार रही। सर्वाधिक अन्याय के शिकार के शिकार समुदायों में अमेरिका और दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत तथा भारत के बहुजन रहे हैं। इनमें भारत के बहुजनों को ही शीर्ष पर रखा जा सकता है.'

बहुजनों की सापेक्षिक वंचना : भाजपा के खिलाफ साबित हो सकती है बारूद का ढेर!

यह वंचित आबादी अन्याय की गुफा से निकलने के लिए बुरी तरह छटपटा रही है। भारत में सामाजिक अन्याय की शिकार विश्व की विशालतम आबादी को जिस तरह विषमता का शिकार होकर जीना पड़ रहा है, उससे भारत में विशिष्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पनपने की 'निश्चित दशाएं' साफ़ दृष्टिगोचर होने लगीं हैं। समाज विज्ञानियों के मुताबिक़ क्रांतिकारी आन्दोलन मुख्यतः असंतोष, अन्याय, उत्पादन के साधनों का असमान बंटवारा तथा उच्च व निम्न वर्ग के मध्य व्याप्त खाई के फलस्वरूप होता है। सरल शब्दों में ऐसे आन्दोलन आर्थिक और सामाजिक गैर बराबरी की कोख से जन्म लेते हैं और तमाम अध्ययन साबित करते हैं कि भारत जैसी भीषण गैर-बराबरी पूरे विश्व में कहीं है ही नहीं। इस क्रान्तिकारी आन्दोलन में बहुजनों में पनपता 'सापेक्षिक वंचना' का भाव आग में घी का काम करता है, जो वर्तमान भारत में दिख रहा है। क्रांति का अध्ययन करने वाले तमाम समाज विज्ञानियों के मुताबिक़ जब समाज में सापेक्षिक वंचना का भाव पनपने लगता है, तब आन्दोलन की चिंगारी फूट पड़ती है। समाज विज्ञानियों के मुताबिक़, 'दूसरे लोगों और समूहों के संदर्भ में जब कोई समूह या व्यक्ति किसी वस्तु से वंचित हो जाता है तो वह सापेक्षिक वंचना है। दूसरे शब्दों में जब दूसरे वंचित नहीं हैं, तब हम क्यों रहें!' जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हजारों साल के विशेषाधिकारयुक्त व सुविधासंपन्न सवर्णों के शक्ति के तमाम स्रोतों पर ही 80-90 प्रतिशत कब्जे ने बहुजनों में सापेक्षिक वंचना के अहसास को प्रायः तुंग पर पहुंचा दिया है। और इतिहास गवाह है जब बहुसंख्य लोगों में यह भाव पनप जाता है, क्रांतिकारी आन्दोलन भड़कने में देर नहीं लगती। सापेक्षिक वंचना का भाव क्रान्तिकारी आन्दोलन की एक और शर्त पूरी करता दिख रहा है और वह है 'हम-भावना' का तीव्र विकास। कॉमन वंचना ने बहुजनों को शक्तिसंपन्न वर्गों के विरुद्ध 'हम-भावना' से लैस करना शुरू कर दिया है। इस भयावह विषमता का सद्व्यवहार कर बहुजन साहित्यकार विशिष्ट आन्दोलन लायक हालात बनाने में जुट गए हैं।

सापेक्षिक वंचना के सद्व्यवहार के लिए : डाइवर्सिटी

इसमें कोई शक नहीं कि जिस तरह 'प्राचीन विशेषाधिकारयुक्त तबके का सदियों से ही शक्ति के स्रोतों पर प्रायः सम्पूर्ण एकाधिकार रहा और आज भी उनका उद्योग-व्यापार, शासन-प्रशासन, शैक्षिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्रोतों पर 80-85 प्रतिशत कब्ज़ा है तथा जो 15-20 प्रतिशत अवसर वंचितों को सुलभ हैं, उन्हें भी जिस तरह मोदी सरकार अपनी आर्थिक नीतियों के जरिये शक्तिशाली तबकों के

Continue Your Reading Journey

This preview has ended. Access the complete library and support our mission.

Join Our Inclusive Reading Community

✓ We champion diverse voices and perspectives
✓ Your support helps amplify underrepresented authors
✓ We provide free access to educational institutions
✓ Building bridges through shared stories
✓ Creating space for all narratives to be heard

Support Our Mission

Your donation enables us to:

- Curate diverse book collections
- Support authors from marginalized communities
- Provide free resources to educators
- Maintain our accessible digital library

Visit: www.diversitymission.in

Sign the diversity pledge • Make a donation • Download full library